ज्ञान : आत्मा का गुण भी, स्वरुप भी

— उपाध्याय अमरमुनि

शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—'आत्मा का स्वरुप क्या है?' गुरु ने तत्व ज्ञान की गंभीर गांठ खोलते हुए बताया—ज्ञानमयो हि आत्मा—आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान ही उसका स्वरुप है, ज्ञान ही उसका गुण है। तात्पर्य यह हुआ, कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव वस्तु से दूर नहीं होता। जैसे ताप अग्नि से अलग नहीं रह सकता, प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं हो सकता। कोई कहे अग्नि तो है, पर उष्ण नहीं है, सूर्य आकाश में चमक तो रहा है, पर अभी तक अंधकार छाया हुआ है—यह बात नितान्त गलत है। स्वभाव कभी है कभी नहीं, यह नहीं हो सकता। स्वभाव तो सर्व काल और सर्वदेश में समान रुप से रहता है।

गुरु ने जब कहा—'ज्ञानमयो हि आत्मा' तो एक नया प्रश्न और खडा हो गया? जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, तो फिर एकेन्द्रिय और निगोद अवस्था में आत्मा जड़वत् ज्ञान-शून्य क्यों प्रतीत होता है? न उस में कुछ संवेदनशीलता प्रतीत होती है और न सुख-दु:ख के प्रति चंचल चेतना। यह शून्यता और स्थिरता ज्ञान का अभाव प्रकट नहीं करती है?

प्रश्न का समाधान देते हुए कहा गया है—चेतना प्रत्येक आत्मा में समान रुप से होते हुए भी कर्म के आवरण के कारण किसी में कम विकसीत प्रतीत होती है, और किसी में अधिक। सर्वज्ञ आत्मा में वह चैतन्य रुप विकसित होता है। ज्ञान की शक्ति को आच्छादित करने वाले आवरण को ज्ञानावरण कहते हैं। 'ज्ञानावरण' की व्याख्या समझने पर उक्त-प्रश्न का स्वयं समाधान हो जाएगा। 'ज्ञानावरण' का अर्थ अज्ञान या ज्ञानाभाव नहीं है। क्योंकि जो आज ज्ञान नहीं है, वह पहले न अनन्त भूत में कभी ज्ञान था और न अनन्त भविष्य में कभी ज्ञान हो सकेगा। अत: जब कर्मो का नामकरण करने का प्रश्न आया, तो उन्होंने चेतना के अर्ध विकास को ज्ञानाभाव नहीं बताया, पर 'ज्ञानावरण'-ज्ञान का आच्छादन बताया। ज्ञानावरण, दर्शनावरण दो कर्म हैं और उसका अर्थ -ज्ञान तो है, पर उसके ऊपर एक आवरण आया हुआ है। दर्शन तो है, पर उसके ऊपर एक आवरण आ गया है। 'आवरण' आ गया इसका अर्थ है, कि आवरण भी एक वस्तु है, वस्तु भी एक सत्ता है, एक शक्ति है। किसी वस्तु को मुठ्ठी में बन्द करके कहा जाए कि उसको बन्द कर दिया है। वस्तु पर एक ढक्कन या वस्त्र डालकर कहा जाए, कि उस पर आवरण डाल दिया है। यह शब्द ध्वनित करता है, कि जो शक्ति है, एक सत्ता है, वह तो विद्यमान है, उसका नाश नहीं हुआ है, किन्तु उसे आवृत कर दिया गया है।

'आवरण' शब्द को व्याकरण की दृष्टि से देखेंगे, तो यह स्पष्ट हो जाएगा - वस्तु जो एक शक्ति या सत्ता है, उसके चारों ओर एक आच्छादन-ढक्कन डाल दिया गया है। उसके मुँह पर पर्दा डाल दिया गया है। नाश और विलय-वस्तु के अभाव का द्योतक है, वस्तु की सत्ता की अस्वीकृति है। किन्तु आवरण के उच्चारण में-'वस्तु की सत्ता' का स्वीकार है; इन्कार नहीं, इकरार है। बादल आकाश में मंडरा रहे है, काली - काली घटाएँ छा रही हैं और विस्तृत होती हुई पूरे नीले आसमान को ढंक लेती हैं। सूर्य भी उसके अंचल में छिप जाता है, बादलों की काली-नीली चादर ने उसको आच्छादित कर लिया है। किन्तु, बादलों के इस आवरण का अभिप्राय यह तो नहीं है, कि सूर्य ही समाप्त हो गया। सूर्य विद्यमान है, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाश भी बिखर रहा है, पर बादलों ने उसे आवृत कर लिया है। बादल, बादल है। आवरण, आवरण है। आवरण वस्तु के स्वरुप को ढंक सकता है, पर उसे मिटा नहीं सकता। वह वस्तु की सत्ता का विनाश नहीं कर सकता।

कल्पना कीजिए घर में दीपक जल रहा है और जलते हुए दीपक पर यदि ढक्कन रख दें, आवरण कर दें, तो इसका अर्थ हुआ दीपक का प्रकाश गायब हो गया। घर में अंधेर घुप्प हो गया। समूचा घर अन्धकार में डूब गया। अपने हाथ से रखी हुई वस्तु का भी आपको पता नहीं चल रहा है, कि वह कहाँ रखी है? और उस अंधकार में कहीं घुस-पुस हो जाए, चोर-चोर की आवाज लग जाए, तो सभी लोग उठकर इधर-उधर दौडते हुए परस्पर एक दूसरे से टकरा जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को चोर-चोर कह कर भिड़ पड़ते है, एक-दूसरे का सिर फोड़ने लगते है। क्योंकि उन्हें अपने-पराये का, चोर और साहूकार का क्या पता चलेगा अंधकार में? इसलिए वे एक-दूसरे को पहचान नहीं पा रहे है, परस्पर में टकरा रहे हैं। यह सब क्यों हो रहा है? क्या दीपक का प्रकाश समाप्त हो गया? ज्योति विलीन हो गई? ऐसा तो नहीं हुआ। दीपक का प्रकाश ढक्कन के अन्दर में तो जगमगा रहा है। उसकी ज्योति जल रही है। फिर अन्धकार क्यों हुआ? दीपक है, प्रकाश भी है, फिर भी अन्धकार है? दीपक जल रहा है, पर अन्धकार छाया हुआ है। कैसी विचित्र पहेली है?

आवरण हटा, प्रकाश मिला

भारत का दर्शन और चिन्तन इस पहेली को ऐसे सुलझाता है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा में एक अखण्ड ज्योति जल रही है। वह आत्मा कहीं भी, किसी भी स्थिति में है-चाहे निगोद में हो, एकेन्द्रिय आदि योनि में हो, नरक या तिर्यञ्च गति में हो, सर्वत्र वह प्रकाशमान है, उसकी ज्योति जगमगा रही है, किन्तु उस पर काम, क्रोध, मद अहंकार आदि विकारों का आवरण छा गया है। कहीं पर आवरण गहरा छा रहा है। और कहीं पर झीना, दूधिया। जहाँ-जहाँ जैसा आवरण है, वहाँ अन्दर दीपक के जलते हुए भी बाहर में अन्धकार परिलक्षित होता है। यह आत्मा आवरण, ढक्कन से ढका हुआ दीपक है, घटाओं से घिरा हुआ सूर्य है। आवरण हटने के लिए है, घटाएँ नष्ट एवं विलीन होने के लिए है, किन्तु तुम्हारे दीपक-सूर्य का अस्तित्व नष्ट होने के लिए नहीं है। आवरण जो आया है, वह जाएगा। आत्मा की सत्ता को, अस्तित्व को जिसने ढक रखा है, वह उससे उन्मुक्त होगी, स्वतंत्र होगी और उस पर आया हुआ कर्म आवरण समाप्त होगा।

आत्मा स्वर्ग में गया तब भी वह दीपक जलता रहा और नरक में गया तब भी। आवरण आते रहे, हटते रहे, कम या अधिक होते रहे और ज्योति जलती रही। जब आवरण कमजोर हो गए, तो उसके भीतर से प्रकाश छन कर आने लगा, आवरण कुछ गहरे हो गए तो प्रकाश का छनना भी कम हो गया। ज्ञान की तरतमता आवरण की तरतमता यानी सघनता और विरलता पर निर्भर करती है। प्रगाढ आवरणों के नीचे भी वह ज्योति जलती रही, नष्ट नहीं हुइ;। कल्पना करो, यदि एक क्षण के लिए भी वह ज्योति बुझ गई, तो फिर उसका प्रकाश समाप्त हो जाएगा। फिर वह ज्ञान, ज्ञानावरण से आवृत्त नहीं रहेगा, किन्तु ज्ञानाभाव हो जाएगा। चेतना, चेतन नहीं रह कर, जड हो जाएगा। पर यह स्थिति आज तक न कभी आई है, और न कभी आएगी।

 तन-मन और प्राण की एकाग्रता से जो साधक साधना करता है उसे जगत में कोई वस्तु अप्राप्य वस्तु नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म से कर्म की गाँठ :

बोल-चाल की भाषा में हम कहते आए है, कि ज्ञान प्राप्त करो। पर यह भाषा दर्शन की भाषा नहीं है। प्राप्ति का अर्थ 'अप्राप्तस्यार्थस्य उपलब्धि: प्राप्ति:' जो आज तक प्राप्त नहीं हुआ है, मिला नहीं, उसकी उपलब्धि प्राप्ति कही जाती है? परन्तु जो वस्तु अपने पास है, उसकी प्राप्ति कैसी? दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से विचार करेगें तो 'ज्ञान-प्राप्ति' इस शब्द का कोई अर्थ नहीं है, भारतीय-दर्शन में उस प्राप्ति का कोई स्थान नहीं है। जो अपने अन्दर में है उसको क्या प्राप्त किया जाए, वह तो प्राप्त है ही। जो दूसरा है, पर है, अपने से भिन्न है उसको पाया जाता है, प्राप्त किया जाता है। परन्तु स्वयं की कैसी प्राप्ति? कोई व्यक्ती इधर उधर नजर दौडाता हुआ कुछ ढूँढ रहा है, तलाश कर रहा है। लोग पूछते हैं-बाबा! क्यां खोज रहे हो? तो वह कहे कि अपने आपको खोज रहा हूँ तो लोग हसेगें की यह पागल हो गया है। इसे पागल के अस्पतालों में भेजो। आगरा या राँची ले जाओ-। इसका दिमाग बिगड गया है।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह आत्मा में विद्यमान है। उसकी प्राप्ति जैसी कोई बात नहीं ह। जो वस्तु प्राप्त की जाए वह अपनी नही होती, उधार की हुई होती है, पराई होती है। ज्ञान तो आत्मा का निज स्वरुप है। आत्मा ही ज्ञानमय है। अत: उसकी प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न होता है- जब 'प्राप्ति' शब्द के साथ इतना वितर्क जुडा हुआ है, तो फिर उसे क्या कहा जाए?

बात यह है कि ज्ञान की प्राप्ति नहीं, किन्तु जागृति होती है। वह प्रगट या प्रकाशित किया जाता है। यों तो शब्दों का चक्कर है। इस चक्कर से बचकर ही चलना पडता है, पर जब गहराई से चक्कर को भी समझने की बात करते है, तो यह सब विश्लेषण किया जाता है, कि प्रकाश अन्दर में विद्यमान है, और जिस पर आवरण छा गया है, उस आवरण को हटा कर फैंकना है। शास्त्र कहते हैं-तू प्रकाशमान है, अखण्ड जोतिर्मय है, सच्चिदानन्द रुप है। कितने ही प्रगाढ़ आवरण छा जाएँ, पर तेरा प्रकाश पूर्णत: कभी लुप्त नहीं हो सकता। प्रकाश का ज्योति-मण्डल सिमट सकता है, परंतु मिट नहीं सकता। किसी भी आवरण में उसे मिटाने की क्षमता नहीं है। अन्धकार जो छाया हुआ लगता है, वह आवरणों के कारण है। आवरण हटे कि तू स्वयं प्रकाशमय दिखाई पडेगा।

आवरण क्या है, वस्तुत: आवरण कर्म-बन्धन है। आत्मा के ऊपर कर्म का एक पर्दा है। प्रश्न यह है कि आवरण या बन्धन किसको होता है? बोल-चाल की भाषा में हम कह देतें हैं, कि आत्मा को कर्म लग गए हैं। परंतु तात्विक दृष्टि से यह भाषा भी अशुद्ध है। कर्म को ही कर्म लगते है, आवरण पर ही आवरण चढता है। आत्मा का जो अपना रुप है, जिसे हम आत्म-द्रव्य कहतें है, वह तो शुद्ध निर्विकार है, चिदानन्द स्वरुप है। उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता, अन्तर नहीं पडता। फिर कर्म कहाँ लगते हैं? तथ्य यह हैं, कि आत्मा की भाँति कर्म भी अनादि है। नये कर्म आते है, पुराने चले जाते हैं। ये पुराने-नये कर्म जब आत्मा के साथ नहीं बन्धते, तो फिर वे कहाँ रहते हैं, उनका आधार क्या है? यह भी एक प्रश्न है?

कर्म, कार्मण शरीर के साथ रहते है। कार्मण शरीर के साथ उनका सम्बन्ध रहता है। कार्मण शरीर का अर्थ हैं - कर्मों का पुञ्ज। पुराने कर्म अपना फल दे कर या साधना के द्वारा कार्मण शरीर से हट जाते हैं और नये कर्म उसी कार्मण के साथ घुल मिल जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जड़ की मैत्री जड़ के साथ होती है। मूर्ख की दोस्ती मूर्ख के साथ होती हैं। विद्वान मूर्ख से मैत्री कभी नहीं करता। अत: इन कर्मों का अधिष्ठान कार्मण शरीर है। उसीके साथ उनका सम्बन्ध होता है। कर्म का कर्म के साथ बन्धन होता है। प्रश्न यह है कि जब कर्म के साथ ही कर्म का बन्धन होता है, तो फिर आत्मा उसके बन्धन में क्यों आबध्द होता है?

कल्पना कीजिए आपने एक गाय के गले में रस्सा डाल कर उसे बाँध लिया। जब रस्से से गाय को बांधेगे, तो उसमें गांठ लगाऐंगे ही आपने गाय के गले में रस्सा डाला और वह बन्ध गई। किन्तु, गाँठ कहाँ लगी? गाय के गले में तो गांठ नहीं लगी। रस्सा गले में आया, फिर भी गला स्वतन्त्र है। चमड़ी में किसी प्रकार की गांठ नहीं लगी। तो इसका मतलब यह हुआ, कि गांठ गाय के साथ नहीं, किन्तु रस्से में रस्से के साथ लगी, और गाय बच गई। यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा और कर्म का संबन्ध भी इसी तरह का है। आत्मा के साथ कर्म की गांठ नहीं लगी है। कर्म की कर्म के साथ गांठ लगी है। माया की माया के साथ गांठ लगी है। प्रकृति के साथ प्रकृति का ही बन्धन हुआ है। परन्तु, आत्मा उस बन्धन में फंस गया है, जैसे रस्से में गाय का गला।

आत्मा अरूपी है और कर्म रूपी है। आत्मा चेतन है और कर्म जड़। अरूपी रूपी के साथ कभी सम्बन्ध नहीं करता। अत: चेतना का जड़ के साथ संबन्ध नहीं होता। विचित्र बात तो यह है कि कर्म के साथ कर्म के बन्धन में आत्मा बन्ध रहा है। और, जब गाय के गले में पड़ी हुई रस्सी की गांठ खुल जाती है, तो वह बन्धन-मुक्त हो जाती है। इसी प्रकार से कर्म की गांठ, जो कर्म के साथ लगी हुई है, उसे खोल कर अलग कर दो, तो आत्मा स्वतन्त्र और कर्म बन्धन से मुक्त हो जाएगी।

इस उदाहरण से आत्मा और कर्म का बन्धन आपकी समझ में आया होगा। मुक्ति प्राप्त करने का क्या अर्थ है, यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। आत्मा तो प्रत्येक स्थिति में मुक्त है, किन्तु उसने बाह्य बन्धन को अपना मान लिया है। कर्म के बन्धन को अपने आपमें स्वीकार कर लिया है। इसलिए वह कर्म से आबद्ध है। और प्रतिक्षण नए कर्मो को बांध रहा है। जब वह अपने स्वरुप को समझ लेता है, तब वह यह अनुभव करने लगता है, कि यह बन्धन मेरा अपना नहीं है। और उसी क्षण उसके मन में, आवरण से मुक्त होने की भावना जागृत होती है और तभी मुक्ति प्राप्त करने की बात उठती है।

जड़-चेतन की भिन्नता:

मुक्ति की बात ही ज्ञान प्राप्ति की बात है। ज्ञान तो आत्मा में विद्यमान है, उसकी प्राप्ति कैस्री? व्यवहार में हम प्राप्ति शब्द का प्रयोग करते है, उनको अभिप्राय यही है कि ज्ञान पर जो बाह्य आवरण आ गया है, उसको हटा देना। जब आवरण हट जाएगा, तो उस आवरण के भीतर विद्यमान ज्ञान स्वत: प्रकट हो जाएगा। जब तक ज्ञान पर आवरण रहता है, एक भ्रान्ति बनी रहती है, आत्मा स्व-पर को समझ नहीं पाता, सत्य-असत्य का बोध नहीं कर पाता, बस यही अज्ञान है, तात्विक-भाषा में यह मिथ्यात्व है पर में स्व-आत्मा को समझना, और स्व में पर को समझना, यह भ्रान्ति है। नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य समझना, चैतन्य के गुण को अपना गुण नहीं समझकर अचैतन्य का गुण समझना और शरीर के गुण-धर्म को अपने ऊपर थोप लेना, यहीं तो भ्रम है, मिथ्यात्व है।

कभी-कभी पहुँचे हुए साधक भी कह देते है, कि में रोगी हूं मैं निरोग हूँ, मैं सुखी

कर्तव्य के प्रति निष्ठा जहाँ दृढ होती है, वहां मन में उत्साह की ओट में नैराश्य आता ही नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या दुःखी हूँ। इसका अर्थ यह हुआ, कि शरीर के धर्म को, उसकी गति और चेष्टा को आत्मा अपना धर्म समझ बैठा है। अनादि कालीन सह-परिचय के कारण यह भ्रान्ति होना सहज है। आत्मा और कर्म अनादि काल से साथ-साथ चले आ रहे है, किन्तु साथ-साथ चले आने से दोनों एक नहीं हो जाते। दूध में पानी रहता ही नहीं है। और जब दूध में पानी मिला होता है, तो वह दूध के नाम से चलता है। परन्तु दूध के नाम से बिकने पर क्या पानी दूध हो गया? नहीं। पानी दूध में मिलकर भी पानी ही रहेगा, किसी भी स्थिति में वह दूध नहीं बन सकता। दोनों पदार्थ मूलतः भिन्न - भिन्न है, उनकी एकात्म प्रतीति भ्रान्ति है। दूध और पानी की पहचान जिसको है, वह इस भ्रान्ति के चक्कर में कदापि नहीं आता।

विचार कीजिए, कि सौ प्रकार की भिन्न-भिन्न औषधियों को कितना ही बारीक कूट-पीस कर एक कर दिया जाए, फिर भी प्रत्येक औषधि का गुण-धर्म भिन्न-भिन्न ही रहेगा। उनके संमिश्रण से औषधियों के अपने गुण -धर्म नष्ट नहीं होते। आत्मा और कर्म का, चेतन और जड़ का सम्बन्ध इसी प्रकार से चलता चला आ रहा है। आत्मा शरीर के ऊपर और शरीर आत्मा के ऊपर ऐसे छाए हुए हैं, कि दोनों के एकत्व की भ्रान्ति हो जाती है। यह भ्रान्ति ही तो अज्ञान है। जब दूध - पानी को भिन्न - भिन्न समझ लिया, तो भेद विज्ञान की बात शुरु हो गई।

मुक्ति स्थान नहीं, स्थिति है :

जड़ ओर चैतन्य का भेद-विज्ञान जब हो जाता है, शरीर और आत्मा की भिन्न प्रतीति जब होने लगती है, तो आत्मा स्व-स्वरूप को जान कर अपने स्व-स्वभाव में स्थित होने का प्रयत्न करता है, इसे आगमन की भाषा में सम्यक्-ज्ञान कहते हैं। और जब आत्मा कर्म आवरण को हटाता हुआ स्वयं को पहचानने की स्थिति में पहुँचता है, तो यहीं से 'मुक्ति' शुरु हो जाती है। अर्थात् वह 'मुक्त' होना प्रारंभ कर देता है।

जिसे हम 'मुक्ति' कहते हैं, जिसके लिए हमारी समस्त साधनाएँ चल रही हैं। कहीं तपस्याएँ, कहीं दान-पुण्य और कर्म-काण्ड चल रहे हैं। उस मुक्ति के सम्बन्ध में भी हमारे मन में अनेक प्रकार के भ्रम और अज्ञान घुसे हुए हैं। वास्तव में मुक्ति क्या हैं? इसे बहुत कम साधक समझ पाते हैं। श्रमण भगवान् महावीर की 'मुक्ति' कब हुई? यदि पूछा जाए तो आप कहेंगे-जीवन के ७२ वें वर्ष में, पावापुरीं में, दिवाली के दिन। इतिहास की दृष्टि से आपका उत्तर सही हो सकता है, पर दर्शन और तत्त्व-ज्ञान की दृष्टी से यह उत्तर गलत है। दीवाली को तो प्रभु ने शरीर छोड़ा था, शरीर के समस्त बन्धनों को तोड़कर वे अशरीरी स्थिति में पहुँचे थे। तो क्या शरीर छोड़ना ही मुक्ति है? शरीर तो सभी व्यक्ति छोड़ते हैं? मनुष्य भी, पशु-पक्षी भी। ऊँट-बैल और गधे-घोड़े भी शरीर छोड़ते हैं, कीट-पतंगे भी शरीर छोड़ते हैं, तो क्या वे सब मुक्त हो गए? बात यह हुई, कि शरीर को छोड़ देना मात्र मुक्ति नहीं हैं।

दूसरी बात, मुक्ति को एक स्थान-विशेष के साथ जोड़ दिया गया हैं। आप से पूछा जाए, कि मुक्ति कहाँ हैं? आप कहेंगे, कि लोकाग्र भाग पर जो स्थान है, सिद्धशिला है, वह मुक्ति है। मैं पूछता हूँ, लोकाग्र भाग पर तो एकेन्द्रिय जीव भी बैठे हैं, बहुत से जीव वहाँ अनन्त-अनन्त काल से बैठे हैं, पृथ्वी, पानी, वायु आदि के अनन्त जीव-पिण्ड वहाँ विद्यमान है। क्या वे सब सिद्ध भगवान् हैं? क्या उन्हें हम 'णमो सिद्धाणं,....अथवा लोगग्ग पइठ्ठाणं' में ले सकते हैं? आप और हम भी उस स्थान पर अनेक बार जन्म मरण कर आए हैं, पर अभी तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध तो नहीं बने?

बात यहाँ अटक जाती है, कि शरीर को छोड़ना मुक्ति नहीं, सिद्धशिला और लोकाग्र भाग भी मुक्ति नहीं है, तो फिर मुक्ति क्या है? और कहाँ है? वास्तव में जैन-दर्शन कभी किसी भौतिक पदार्थ के साथ आत्मा का समझौता नहीं करता। वह किसी स्थान या रुप को मुक्ति नहीं मानता। मुक्ति कोई स्थान विशेष नहीं, परिस्थिति विशेष है। आत्मा की अपनी स्वाभाविक स्थिति को ही मुक्ति कहा है। शरीर छोड़ना मुक्ति नहीं, किन्तु आत्मा का स्वस्वभाव में रमण करना ही मुक्ति है। अत: मुक्ति है, कषाय से राग-द्वेष आदि से मुक्त होना - ''कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।'' यह मुक्ति जीवन में ही प्रारम्भ हो जाती है। आत्मा जब चतुर्थ गुणस्थान को स्पर्श करती है, उसमें सम्यक्-ज्ञान की ज्योति जग उठती है, और मिथ्यात्व का अन्धकार छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है, कषाय की दृढ़ बेड़ियाँ शिथिल हो जाती है, तभी से आत्मा की मुक्ति प्रारम्भ हो जाती है। चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक मुक्ति है। जैसे-जैसे गुणस्थान की स्पर्शता आगे बढ़ती है, और राग-द्वेष की मन्दता, क्षीणता होती चली जाती है, ज्ञान का प्रकाश तीव्र से- तीव्रतर होता चला जाता है, वैसे-वैसे आत्मा मुक्ति की और अग्रसर होती जाती है। गुणस्थान का क्रम आत्मा की क्रमिक विशुद्धि अर्थात् क्रमिक मुक्ति का चित्र है। जितने-जितने अंश में विशुद्धि, निर्मलता और ज्ञान की ज्योति जलती रहती है, उतने-उतने अंश मं आत्मा मुक्त हो जाती है। जब आत्मा पूर्णतया राग-द्वेष एवं कषाय से मुक्त हो जाता है, तब ज्ञानावरण - कर्म का क्षय होकर ज्ञान का सम्पूर्ण प्रकाश आलोकित हो उठता है-

''नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए।''

अज्ञान और मोह का सम्पूर्ण विलय हो जाने से ज्ञान पर गिरा पर्दा-आवरण हट जाता है, तो यह ज्योति जो एक घेरे में बन्द थी, आवरण से ढकी हुई थी, उन्मुक्त प्रकाश बिखेरने लग जाती है। बस, यही मुक्ति का स्वरुप है। ज्ञान का संपूर्ण प्रकाश हो जाना ही परिपूर्ण मुक्ति है। फिर देह का बन्धन रहा तब भी आत्मा उस बन्धन से मुक्त रहता है, और देह - बन्धन नहीं रहा तब भी।

सिद्धान्त यह हुआ, कि देह की मुक्ति मात्र ही मुक्ति नहीं है, न कोई स्थान विशेष ही मुक्ति है, न कोई देश और न कोई वेश ही मुक्ति है, सम्प्रदाय और परम्परा में भी कोई मुक्ति नहीं है। दिगम्बर, श्वेताम्बर ये कोई मुक्ति के द्वार नहीं खोल देते, आज तो यह दुकानदारी हो गए है। दिगम्बर कहता है-मेरी दुकान पर ही मुक्ति की पुड़िया मिलेगी, तो श्वेताम्बर कहता है-मेरे यहाँ मिलेगी। दूसरी किसी दुकान पर पहुँचो तो वह कहता है, कि मेरे यहाँ पर भी इसकी ऐजेन्सी है, मुक्ति का मुख्य वितरक तो मैं ही हूँ, बाकी तो नकली पुड़िया देते हैं। इस प्रकार से मुक्ति की ऐजेन्सियाँ लेकर सब अपनी-अपनी दुकानदारी चला रहे है। वास्तव में मुक्ति किसी के पास नहीं है, तुम्हारी मुक्ति तुम्हारे ही पास है। यदि कोई मुक्ति की पुड़िया होती तो श्रमण भगवान महावीर अपने जामाता जमाली को अवश्य ही दे देते। उसे मिथ्यात्व की बीमारी से बचा लेते। पर ऐसा हो ही नहीं सकता। मुक्ति कोई किसी को दे नहीं सकता, वह कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकती, वह तो अपने में ही है, और अपने से ही प्राप्त की जा सकती है।

ऑपरेशन की शान्ति :

अन्तर की कषायो का जब शमन किया जाएगा, उन्हे शान्त कर दिया जाएगा, तभी मुक्ति

 सत्य कभी कडवा नही होता मात्र जो लोग सत्य के आराधक नही होते वे ही सत्य से डरकर ऐसा कहते है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के नव उल्लास और अनन्त आनन्द की हृदय में अनुभूति होगी। विचारो में कषाय की उष्णता बनी रहे, विकारों का दावानल जलता रहे और आशा लगाये बैठा रहें आनन्द मिलने की, तो वह कैसे मिलेगा? दावानल पर आसन लगाकर बैठे है और कहो ताप लग रहा है? जब नीचे धांय-धांय करती हुई आग जल रही है, तो उसकी गर्मी तो लगेगी ही।

एक सज्जन कह रहे थे "अब कषायों पर विजय प्राप्त करने का बहुत ही सरल तरीका निकल गया है। शरीर-विज्ञान ने यह पता लगाया है, कि मनुष्य के शरीर की रक्तवाहिनी नाड़ीयों एवं नसों के साथ कुछ इस प्रकार की नसें है, जिनसे क्रोध करने, झुठ बोलने एवं अभिमान करने के भाव जागृत होते है। यदि इन नसों को काट दिया जाए, ऑपरेशन कर दिया जाए, तो फिर क्रोध आदि भाव जागृत ही नहीं होंगे।"

मैंने कहा उनसे—इस प्रकार के ऑपरेशन की शान्ति हमें नहीं चाहीए। मनुष्य किसी बौध्धिक कमी के कारण, शारीरिक दुर्बलता एवं अशक्ति के कारण या किसी नशे, इंजेक्शन या दवा आदि के कारण यदि शान्ति अनुभव करता है, तो वह शान्ति नहीं है, उसमें आनन्द की अनुभूति नहीं है। शान्ति का अर्थ है—किसी भी तरह के वातावरण में रहने पर भी मन में शान्ति का भाव बना रहे, विचारों में शान्ति का प्रवाह प्रवहमान रहे, ऐसी शान्ति हमें चाहीए। धर्म तो वह है, जो अपनी गति से चलता रहे। कषाय आदि पर हम धर्म के विचार से, ज्ञान और चिन्तन के सहारे से नियन्त्रण पा लेते है, उसे शान्त अन्तर् — मन के मन में समाधान पाते है, तो हमारे ज्ञान की विजय है, हमारी समता का पराक्रम है। राग और विराग की लड़ाई में यदि राग पर विजय हो जाती है, तो उसमें आनन्द है, उल्लास है। अभाव और दुर्बलता के कारण, जो शान्ति मिलती है, वह शान्ति नहीं, पराजय है। उसमें हीनता और क्षुद्रता का विचार जन्म लेता है। बाहर में शान्ति दिखाई देती है, पर मन में घुटन बनी रहती है, क्षोभ और व्याकुलता करवट लेती रहती है। धर्म और दर्शन ऐसी शान्ति की बात नहीं करता, वह कषाय पर अध्यात्म और ज्ञान के द्वारा विजय पाने की बात करता है। राग को जब विराग से जीता जाता है, तब वह साधना है, मुक्ति की। हम उसी की बात करते है। वह मुक्ति कोई प्रदेश और वेश पर आधारित नहीं है, किन्तु वह आत्मा की विशुद्ध दशा है। वह स्थान नहीं, स्थिति है। उस स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"यस्य स्थिरा भवेत् प्रज्ञा, यस्यानन्दो निरन्तर:।
प्रपंचो विस्मृतप्राय: स जीवनमुक्त उच्यते॥"

जिसकी प्रज्ञा—मन और बुद्धि स्थिर हो जाती है, आत्मभाव में लीन हो जाती है, आनन्द की धाराएँ निरन्तर प्रवाहित होती रहती है, अखण्ड आनन्द की अनुभूतियाँ उसके हर श्वासोच्छवास में उछ्वासित होती रहती है और आत्मा बाहर के प्रपंच में, बाल विकारो की हलचल में विस्मृत-प्राय अवस्था में पहुँच जाता है, इन्द्रियाँ के होते हुए भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए गए सुख-दुख के संवेदन आत्मा को उद्वेलित नहीं कर सकते, संसार की वेदनाएँ पीडीत नहीं कर सकती—आत्मा की यह स्थिति जीवन मुक्त की स्थिति है। देह होते हुए भी उसकी उसके बन्धनों से मुक्त अवस्था होती है। गीता की भाषा में इसे स्थिति-प्रज्ञ कहा गया है। जीवन मुक्त की भी यही स्थिति है, जो स्थित-प्रज्ञ की है।

जब ज्ञान और वैराग्य के द्वारा वृतियों और इच्छाएँ नियंत्रित हो जाती है, मन आत्म-भाव से बाहर नहीं भटकता, तब 'देहछतां देहातीत' अवस्था प्राप्त हो जाती है। साधना की यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरम विकसित अवस्था है, जीवन में कुछ क्षण के लिए भी यदि इस अवस्था की अनुभूति की जा सके, तो वह साधना के आनन्द की सच्ची रसानुभूति होगी।

साधना की अनुभूति :

कुछ साधकों की मन: स्थिति से मेरा परिचय हुआ है। जिनकी चालीस-पच्चास वर्ष की साधना रही है। कहना चाहीए, कि पच्चास वर्ष से वे साधना के मार्ग पर चल रहे है, वे जब मुझ से पुछते है—'महाराज' पता नहीं लगा, कि हम भव्य भी है या नहीं? साधना तो करते चले आ रहे है, संयमपाल रहे है, पर अभी सम्यक्-दर्शन तो दूर, भव्य-अभव्य का प्रश्न ही मन में अटक रहा है। मैं सोचता हुँ, कि इस साधना का मूल्य क्या है? एम.ए. का विद्यार्थी कहे, कि मैं A B C D नहीं जानता, मुझे A B C D , अ, आ, इ, ई, अथवा क, ख, ग सिखा दिजीए, तो यह कैसी विचित्र बात है? क्या यह संसार को धोखा ही देते रहे है? इतनी लम्बी साधनाओं के बाद भी यह अनुभूति नहीं हुई, कि हम भव्य है, या अभव्य? यह यक्ष प्रश्न अब भी मन में खडा हुआ है, कि हम सम्यक्-दृष्टि है या नहीं? मै पूछता हुँ, साधना करके क्या भार ढोया? बारह वर्ष दिल्ली में रह कर क्या भाड़ झोंकी? बाईस वर्ष वाशिंगटन में बिताकर भी जूठी कप-प्लेटें साफ करते रहे? इतनी कठोर साधना करने पर भी नहीं पहचान पाए! दूसरा व्यक्ति भव्य है, या नहीं, सम्यक्-दृष्टि है या नहीं, इसका निर्णय हम नहीं दे सकते। यह केवलज्ञानी से, सर्वज्ञ से पूछने जैसी बात है। पर हम, भव्य हैं या अभव्य, सम्यक्-दृष्टि हैं, या मिथ्यादृष्टि—यह बात तो किसी से पूछने की आवश्यकता ही नहीं, आपकी आत्मा स्वयं ही इसका निर्णय दे सकती है।

कुछ बुढ़े साधु या श्रावक कहा करते है—श्रीमन्धर स्वामी के पास चलें तो पूछे, हम भव्य है या नहीं, सम्यक्-दर्शन की स्पर्शना हुई या नहीं? पर वे यह नहीं सोचते, कि श्रीमन्धर स्वामी आखिर वाणी से ही कहेंगे, वे भी तो जो तुम्हारी आत्मा की स्थिति है, वही स्पष्ट कर सकेंगे। हमारे सामने भगवान महावीर की वाणी विद्यमान है। हजार श्रीमन्धर स्वामी भी आ जाएँ, तब भी वे वाणी से ही कहेंगे। उनके दर्शन हो जाए तो बहुत अच्छी बात है, पर जहाँ तक यह पूछने का सवाल है, वे भी वाणी से ही कहेंगे। जो बात वाणी द्वारा समझने की है, वह भगवान महावीर की वाणी से भी हम समझ सकते है। यदि वाणी पर विश्वास नहीं है, तो फिर श्रीमन्धर स्वामी से पूछ लेने से क्या होगा? वाणी पर जिसे विश्वास नहीं, उसे शरीर पर कैसे विश्वास होगा।

स्थिति यह है, कि आप लड्डु खा रहे है, और दूसरों से पूछ रहे है, कि भाई! इस लड्डु का स्वाद कैसा है? यदि आप की जिह्वा का स्वाद ठीक है, गुडमार वनस्पति नहीं खाई है, अनुभव करने की शक्ति ठीक है, तो फिर उनका स्वाद दूसरों से पूछने की कोई आवश्यकता नहीं हैं।

बात यह है, कि साधक का संकल्प दृढ़ होना चाहीए। वह जिस मार्ग पर चल रहा है, उसे विश्वास के साथ चलना चाहिए। श्रद्धा आस्था का दिपक जलाकर चलना चाहिए, ताकि वह अंधेरे में ठोकरें न खाता फिरे। जो साधना कर रहा है, उसे उसके रस की अनुभूति तो होनी ही चाहिए। अहिंसा की साधना कर रहा है, तो हृदय में क्षमा, करुणा और प्रेम की लहर उठनी ही चाहिए। विकार-विजय की साधना में चल रहा है, तो उसे आत्म-भावों में आनन्द आना ही चाहिए, वैराग्य और निर्वेद के रस में डूब जाना चाहिए। उसकी अनुभूतियाँ

 मन जब लागणी के घाव से घवाता है तब कठोर बन ही नहीं सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जागृत रहनी चाहिए, किसी से पूछने की जरुरत नहीं, कि मैं चल तो रहा हुँ, पर वास्तव में मैं क्या चल ही रहा हुँ? अपनी गति पर, अपनी मति पर, और अपनी स्थिति पर, कभी सन्देह नहीं होना चाहिए।

सम्यक्-दर्शन और मिथ्या-दर्शन :

मैं अपनी कहुँ, कि मेरे मन में कभी ऐसे संकल्प नहीं जगते, कि मैं भव्य हुँ या नहीं? सम्यक्-दृष्टि हुँ या नहीं? चूँकि मेरे मन में श्रद्धा है, विश्वास है, अपनी गति, मति एवं स्थिति पर आस्था है। मैं जो कुछ साधना कर रहा हुँ, उसकी रसानुभूति भी यदा-कदा आत्मा को आप्लावित कर ही देती है।

वस्तुत: सम्यक्-दर्शन की अनुभूति कोई आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है। सम्यक्-दर्शन और मिथ्या-दर्शन क्या चीज है? यह आप एक उदाहरण से समझ सकते है। एक अहोरात्र-रात-दिन में एक ओर प्रकाश रहता है, उजाला रहता है, और दुसरी ओर अन्धकार, घनघोर अन्धेरा। आत्मा एक अहोरात्र की स्थिति में है, जहाँ ज्ञान का प्रकाश है, वहाँ सम्यक्-दर्शन है; जहाँ उस पर आवरण आ गया, विकृति आ गई है, वहाँ वह मिथ्या-दर्शन हो गया। जब सम्यक्-दर्शन की स्थिति में रहते है, तो दिन के प्रकाश की स्थिति और जब मिथ्यात्व की स्थिति में जाते है, तो अन्धकारमय रात्रि की स्थिति आ जाती है। मिथ्यात्व की रात्रि जब समाप्त होती है, तो सम्यक्-दर्शन का सुनहरा प्रभात दिन के उदयाचल पर विहँस उठता है।

मिथ्यात्व अज्ञान है, और अज्ञान एक बन्धन है। जब तक यह बन्धन नहीं टूटता, आत्मा मुक्त नहीं हो सकता। स्व-पर का भेद, जड़-चेतन की पहचान जब हो जाती है, तो जीवन में जो सुख-दु:ख आते है, उनमें राग-द्वेष एवं मोह उत्पन्न नहीं होता, आसक्ति का भाव नहीं जगता। सम्यक्-दृष्टि भोजन करता हुआ भी भोग करता हुआ भी, उसके बन्धन से मुक्त क्यों रहता है? जब कि मिथ्यात्वी, भोजन बिना किए भी, भोग भोगे बिना भी, उसके संकल्प मात्र से कर्म बांध लेता है। सम्यक्-दृष्टि बन्धन के स्वरुप को समझता है, इसलिए वह संसार के भोगों के बीच रहकर भी उन में तन्मय नहीं होता, आसक्त नहीं रहता। वह वस्तु का, पदार्थों का उपभोग करता नहीं, पर उपभोग होता है। वह भोग में रस नहीं लेता यह साधना की कला है, सम्यकत्व की कला है। सम्यक्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि के जीवन-दर्शन में यही मौलिक अन्तर है। सम्यक्-दृष्टि आत्म-परक दृष्टिकोण रखता है, वहाँ मिथ्या-दृष्टि वस्तु परक!

सम्यक्-दृष्टि की मुक्ति उसी क्षण से प्रारम्भ हो जाती है, जिस क्षण में वह साधना के क्षेत्र में चरण बढाता है। वह शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार आत्मा को पहचानता है, और उसी लक्ष्य की ओर श्रद्धा एवं विश्वास के साथ, साधना के रस की अनुभूति करता हुआ निरन्तर चलता रहता है।

ज्ञानमयो हि आत्मा :

बात यह है, कि जब मिथ्यात्व के संकल्प टूटने लगते हैं, तो आत्मा में विशेष प्रकार की जागृति होती है, अनुभूति होती है। यह जागृति और अनुभूति बाहर से नहीं आती, आत्मा में ही सुप्त पड़ी थी, आवरणों के अभेद्य अन्धकार में छुपी थी, जब अन्धकार का भेदन हो गया, वह समाप्त हो गया, तो वह ज्योति प्रकट हो गई, आत्मा का मूल स्वरुप ज्ञात हो गया।

मैं एक बार हरिद्वार गुरुकुल में गया था। वह बहुत बड़ा विद्या-केन्द्र है, दर्शन-शास्त्र का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीठ है। वहाँ आचार्य विश्वेश्वर शर्मा थे। स्वयं साथ में घूम कर विद्यापीठ की अनेक प्रवृतियाँ दिखलाई, उनकी जानकारी दी। मैंने उनसे कहा, विद्यापीठ की महत्वपूर्ण चीज हमें दिखलाइए। तो वे पुस्तकालय दिखाते हुए एक कक्षा में हमें ले गए। जहाँ दर्शन-शास्त्र के उच्चकोटि के अध्ययन की व्यवस्था थी। विद्यार्थी दर्शन-शास्त्र का उच्च अध्यन इस कक्षा में कर रहे थे। विश्वेश्वर शर्मा ने बताया कि यह कक्षा गुरुकुल का प्राण है। दर्शन-शास्त्र के गम्भीर ग्रन्थों का यहाँ पर अध्ययन, चिन्तन एवं मनन किया जाता है। दर्शन-शास्त्र के अभ्यासी विद्यार्थीयों के बीच पहुँच कर मैं भी बहुत प्रसन्न हुआ। विद्यार्थी खडे हो गए, आचार्य विश्वेश्वर शर्मा बोले—कुछ पूछिए विद्यार्थीयों से?

मैंने उन विद्यार्थीयों से एक छोटा - सा प्रश्न किया, कि मेरे स्नेही विद्यार्थीयो! आपने इस गुरुकुल में किसलिए प्रवेश किया है? आपका यहाँ रहने का उद्देश्य क्या है?

थोडी सी देर सन्नाटा सा छाया रहा, फिर एक विद्यार्थी का हाथ उठा। मैंने उसे कहने की अनुमति है, तो वह बोला—यहाँ हम ज्ञान प्राप्त करने के लिए आए है।

मैंने विद्यार्थीयों से पूछा—क्या गुरुकुल में ज्ञान का उत्पादन होता है? या ज्ञान का कोई खजाना दबा पडा है? इस भाँति यदि आप ज्ञान प्राप्त करके लेते जाएँगे, यहाँ के विद्वानों का सब ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तो फिर यहाँ का ज्ञान तो कुछ ही दिनों में ही समाप्त नहीं हो जाएगा?

सभा में सन्नाटा छा गया। वास्तव में विद्यार्थी का उत्तर पूर्णतः गलत नहीं था, सामान्यतः यही उत्तर होता है। पर जहाँ दर्शन-शास्त्र का विद्यापीठ है, दर्शन की उच्चतम शिक्षा दी जाती है, वहाँ दर्शन-शास्त्र की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थीयों का यह उत्तर—''ज्ञान प्राप्त करने के लिए आए है'' गलत है। मैंने कहा—यदि इस प्रकार आप ज्ञान लेते जाएँगे, तो गुरुकुल के गुरुओं के ज्ञान का तो दिवाला निकाल देंगे। विश्वेश्वर शर्मा बोले आप बहुत दूर की बात पर चले गए। मैंने कहा, नहीं मैं तो निकट आ रहा हुँ। आखिर मैंने ही अपने प्रश्न का उत्तर दिया, बात यह है, कि ज्ञान प्राप्त करने जैसी चीज नहीं है। ज्ञान तो तुम्हारा स्वरुप है, आत्मा का लक्षण है—''ज्ञानाधिकरणो आत्मा'' ज्ञान का अधिष्ठाता आत्मा ही है। 'जीवो उवओगो लक्खणो' कहने वाले आचार्यो ने ज्ञान को तुम्हारे से दूर नहीं माना है, तुम्हारे से भीन्न वस्तु नहीं मानी है, वह तुम्हारी ही वस्तु है और तुम्हारे भीतर ही है। ज्ञान आत्मा का गुण है, उसे तो सिर्फ प्रकट करने की आवश्यकता है, जगाने की जरुरत है। भारतीय-दर्शन ने कहा है—''आत्मा ज्ञानवान है'' फिर एक छलांग लगाई कि ज्ञान स्वरुप आत्मा है। और उससे भी आगे बढकर कहा है—''ज्ञान ही आत्मा है।''

ज्ञान आत्मा में ही है, उसे केवल जगाने की जरुरत होती है। दियासलाई पर मसाला लगाया हुआ है। उसे सिर्फ एक रगड, संघर्ष की जरुरत होती है। बस उस संघर्षण के लिए ही विद्यालय, या गुरुकुल में प्रवेश किया जाता है।

वास्तव में ज्ञान आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, वह आत्मा में ही है, उसे जगाने की जरुरत है, प्रकट करने की आवश्यकता है। और जितनी साधनाएँ एवं आत्माभिमुखी प्रवृत्तियाँ है, वे सब उस ज्ञान की ज्योति को प्रकट करने का निमित्त है, साधन है। इस ज्ञान के साथ जीवन में साधना का भी महत्व है, उसे हमें भूलना नहीं है। अतः साधना के साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ साधना—दोनों के माध्यम से परिपूर्णता, आत्मा की सार्वभौम विशुद्ध ज्योति का अनावृत्त करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org